International Journal of Multidisciplinary Horizon

ISSN: **3049-2017**
IJMH 2025; 2(4): 35-38
© 2025 IJMH
www.themultijournal.com
Received: 19-07-2025
Accepted: 21-07-2025
Publish : 25-07-2025

डा. सुषमा जोशी
संस्कृत विभाग,
डी.एस.बी. परिसर,
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

डॉ. प्रदीप कुमार
संस्कृत विभाग,
डी.एस.बी. परिसर,
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

Correspondence:
डा. सुषमा जोशी
संस्कृत विभाग,
डी.एस.बी. परिसर,
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

श्रीमद्भागवत पुराण का वर्तमान जीवन के परिप्रेक्ष्य में वर्ण निरूपण

डा. सुषमा जोशी , डॉ. प्रदीप कुमार

Abstract

भारतीय सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक मानी जाती है, जिसकी सामाजिक संरचना विविध रूपों में विकसित हुई। इन सामाजिक संरचनाओं में वर्ण व्यवस्था एक अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रभावशाली संस्था रही है। इसका मूल उद्देश्य समाज को एक सुव्यवस्थित ढांचे में बाँटना था, जिससे प्रत्येक व्यक्ति के कार्य, कर्तव्य और उत्तरदायित्व निर्धारित हों। श्रीमद्भागवत के अनुसार ब्रह्म के अवलोकन की क्षमता मानव में है। परब्रह्म के साक्षात्कार का अर्थ है- स्वात्मदर्शन, वर्ण धर्म एवं आश्रम धर्म इसकी प्रधान भित्तियां हैं। जहाँ वर्ण-धर्म और आश्रम धर्म नही है। वहां आत्मसाक्षात्कार रूप मानव लक्ष्य की पूर्ति की सम्भावना ही नहीं की जा सकती है। सत्य, चोरी न करना, अक्रोध, पवित्रता, बुद्धि, मनःसंयम, इन्द्रिसंयम विद्या आदि सार्वभौम धर्म है। इन धर्मों के पालन किये बिना मानव लक्ष्य सिद्धि पर नहीं पहुँच सकता। जिन देशों में तथा जिन वर्गों में वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं है, वहाँ आध्यात्मिक सुख स्वप्न में भी प्राप्त नहीं हो सकता-यह ध्रुव सत्य है। वर्णाश्रम व्यवस्था यदि स्थिर होती तो आज भी समाज की सर्वांगीण उन्नति होती देख पड़ती, इसलिये वर्ण व्यवस्था का बंधन मानव के लिये व्यक्ति और समाज के लिये आवश्यक था, आज भी है। मानव की स्वैर मनः सरिता को सुनियन्त्रित रखने के लिये यदि वर्णाश्रम व्यवस्था का बांध बांधा जाता तो आध्यात्मिक और नैतिक कृषि के लिये भरपूर जल मिलता, उससे उपज भी बढ़ सकती। थी। उसके अभाव में जहाँ उसकी आवश्यकता नहीं, वहां उसकी बहुलता हो गयी। इससे दुर्गुणों के खाल खड्डों में से होकर यह नदी बहती रहेगी और कुविचारों का जंगल ही उससे बढ़ता रहेगा। वर्णाश्रम संस्था से ही मानवता का पोषण और संरक्षण उत्तम रीति से हो सकता है, यही अपने समाज का सत्यानुभव है। वर्ण व्यवस्था का मूल स्वरूप सामाजिक कार्यों के सुव्यवस्थित संचालन हेतु था, लेकिन समय के साथ इसमें विकृति आ गई और यह सामाजिक असमानता का कारण बन गई। आज के लोकतांत्रिक और आधुनिक समाज में व्यक्ति की पहचान उसके गुण, शिक्षा और कर्म से होनी चाहिए, न कि जन्म से। हमें अपने समाज में समानता, सहिष्णुता और समरसता की भावना को बढ़ावा देना चाहिए।

सृष्टि के आदि में भगवान् ने संसार के परम हित के लिये चार वर्णों की व्यवस्था करके जो समाज का संगठन किया है, वह हम लोगों के शरीर, समाज, व्यापार और देश के लिये परम हितकर है। अतः हम लोगों को अपने अधिकार के अनुसार उन धर्मो का यथावत् पालन करन चाहिये। भागवत प्रोक्त वर्ण व्यवस्था का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिये ।

विराट् पुरूष के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य, और चरणों से शूद्रों की उत्पति हुई। उनकी पहचान उनके स्वभावानुसार और आचरण से होती है[1]। मानव पिण्ड को देखते हैं तो स्वभावतः यह पांच अंगों में विभक्त दीख पड़ता है, यथा पहला ग्रीवा से ऊपर का भाग, जिसे हम ज्ञान केन्द्र कह सकते हैं। दूसरा भुजाओं का भाग, जिसे हम रक्षक भाग कह सकते हैं। तीसरा पेट आदि मध्यभाग, जिसे हम पोषक भाग कह सकते हैं। चौथा पांव का भाग, जिसे हम स्वयं सेवक भाग कह सकते हैं, पांचवां मलमूत्र के त्याग का भाग, जिसे हम संशोधक या पावक भाग कह सकते हैं।

इस प्रकार हमारे मानव पिण्ड के ये प्रधान पांच अंग हैं, जब तक ये पाँचों अंग अपना काम ठीक करते हैं। हमारा ऐसा कोई आवश्यक काम शेष नहीं रहता। जो अंगों ने परस्पर सद्भाव से बांट न लिया हो। इसी प्राकृतिक चित्र के आधार पर समस्त मानव समाज को समष्टि रूप से सुव्यवस्थित करने के लिये चार वर्ण और पांचवें अन्त्यज नाम भाग की रचना हुई है।

यह समस्त ब्रह्माण्ड ही प्रकृति के सत्व, रज, तम नामक तीन गुणों के वैषम्य का परिणाम है, इसलिए न केवल मानव समाज मात्र में ही अपितु ब्रह्माण्ड की जड़ चेतनात्मक प्रत्येक वस्तु में वर्णव्यवस्था का अस्तित्व देखा जा सकता है जैसे कि वेदादि शास्त्रों में वर्णन किया गया है, यथा- पहले ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि हुई, सनत् कुमारादि इसी सृष्टि के प्रमुख थे, उससे काम न चल सका तब प्रजापति ने क्षत्रिय वर्ण उत्पन्न किया देवताओं में इन्द्र, वरूण, सोम रूद्र आदि क्षत्रिय हैं। फिर भी काम न चला तब वैश्य वर्ण को उत्पन्न किया, गणेश विख्यात होने वाले वसु रूद्र आदि देवता वैश्य वर्ण के हैं। फिर भी काम न चल सका तब शूद्र वर्ण की रचना की। देवताओं में पूषा आदि शूद्र कोटि के देवता हैं[2]।

जैसे मनुष्यों में ब्राह्मण है वैसे ही पशुओं में 'अज' छाग है। जैसे मनुष्यों में क्षत्रिय है, वैसे ही पशुओं में मेढ़ा है। जैसे मनुष्यों में वैश्य है वैसे ही पशुओं में गाय है जैसे मनुष्यों में शूद्र है, वैसे पशुओं में घोड़ा है[3]। जो लकड़ी हलकी, नरम और सुविधा से घड़ी जा सकती हो वह ब्राह्मणजाति की है। जो हलकी मजबूत और घड़ने में दुष्कर हो वह क्षत्रीय है। जो नरम और भारी हो वह वैश्य जाति की है, और जो मजबूत और भारी हो वह शूद्र जातीय है[4]।

वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में भागवत में दो बातें मुख्य हैं- एक तो यह कि अपने आचरण को शुद्ध रखो अर्थात् दुर्गणों को छोड़कर सद्गुणों को धारण करो दूसरी बात यह कि अपनी वंशपरम्परागत शुद्ध आजीविका से निर्वाह करो। जो यों करता है, वह धार्मिक है। सभी धर्मप्रवर्तक महानुभावों ने इन्हीं दो बातों पर विशेष बल दिया है।

ब्राह्मण-

शम, दम, तपस्या, पवित्रता, संतोष, क्षमाशीलता, सीधापन, मेरी भक्ति (भागवद् भक्ति), दया और सत्य ये ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव हैं[4]। अध्ययन, अध्यापन, दान लेना, दान देना और यज्ञ करना, ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं[5]। ब्राहमण के जीवन निर्वाह के साधन चार प्रकार के हैं- वार्ता, यज्ञाध्ययनादि कराकर धन लेना। उसी में निर्वाह करना ।

यायावर- नित्य प्रति धान्यादि लाना।

शिलोछन- किसान के खेत काटकर अन्न घर को ले जाने पर पृथ्वी पर जो कण पड़े रह जाते हैं, उन्हें 'शिल' तथा बाजार में पड़े हुए दानों को 'उच्छ' कहते हैं। उन शिल और उच्छों को बीनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोन्छन' वृत्ति है[6]।

बाजार में पड़े हुए अन्न तथा खेतों में पड़े हुए अन्न (शिला) को बीनकर श्शिलोछश् वृत्ति से जीविका निर्वाह करना ऋत है। बिना मांगे जो कुछ मिल जाय, उसी अयाचित (शालीन) वृत्ति के द्वारा जीवन निर्वाह करना 'अमृत' है। नित्य मांग कर लेना अर्थात् 'यायावर' वृत्ति से जीवन निर्वाह करना 'प्रमृत' है। वाणिज्य 'सज्यानृत' है। और निम्नवर्ण की सेवा करना 'श्रानवृत्ति' है। आपत्ति काल में ब्राह्मण सभी वृत्ति से जीवन निर्वाह करे परन्तु शूद्र की वृत्ति का अवलम्बन आपत्तिकाल में भी नहीं करना चाहिये[7]। (श्रीमद्भागवत 7/11/18/19-20) कर्मो का निष्काम भाव से पालन करने पर ब्राह्मण का कल्याण हो जाता है।

क्षत्रिय-

तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मण भक्ति और ऐश्वर्य ये क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव है[8]। क्षत्रिय को दान नहीं लेना चाहिये। प्रजा की रक्षा करने वाले क्षत्रिय का जीवन निर्वाह ब्राह्मण के अलावा और सबसे यथायोग्य कर तथा दण्ड (जुर्माना) आदि के द्वारा होता है[9]। यदि क्षत्रिय के कर्म से निर्वाह न हो तो आपत्तिकाल में वह वैश्य की वृत्ति से अपना जीवन निर्वाह करें। आपत्तिग्रस्त क्षत्रिय सभी पदार्थों के क्रय-विक्रय रूप पूर्वोक्त वैश्य वृत्ति से जीविका चला सकता है, किन्तु आपत्तिकाल में भी ब्राह्मण की जीविका की अभिलाषा कभी न करें[10]। इस प्रकार क्षत्रिय के तेज, बल, धैर्य, शौर्य, तितिक्षा, उदारता, उद्योग स्थिरता, (ब्राह्मण भक्ति), वेदाध्ययन, यज्ञ, दान तथा ऐश्वर्य- ये आन्तरिक धर्म हैं, वह अपनी आजीविका के लिये प्रजा से कर लेकर उससे निर्वाह करे। काम न चले तो खेती, व्यापार, गौ पालन आदि कर ले। मनुष्य धर्म दो ही कारणों से छोड़ा है- एक तो विषयों के लोभ से, दूसरे कुटुम्बियों के मोह से। तब भगवान ने उन्हें धर्म का रहस्य बताया। भगवान् ने कहा- तुम क्षत्रिय हो, धर्म युद्ध करना तुम्हारा स्वभाव है, जहां भी अधर्म देखोगे, वहीं तुम युद्ध में जाओगे। युद्ध के बिना तुम रह नहीं सकते। अब तुम्हें धर्मपालन के समय जो मोह हो गया है, वह अनार्यजुष्ट है। धर्मयुद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिये कल्याणकारी दूसरा कोई धर्म ही नहीं। तब अर्जुन ने धर्म पालन के निमित्तो युद्ध किया, न कि राज्य प्राप्ति के लोभ से।

वैश्य-

देवता, गुरू और भगवान् के प्रति भक्ति, अर्थ, धर्म और काम इन तीनों पुरुषार्थो की रक्षा करना, आस्तिकता, उद्योगशीलता और व्यावहारिक निपुणता ये वैश्य के लक्षण हैं[11]। आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणों की सेवा करना और धन संचय से सन्तुष्ट न होना ये वैश्यवर्ण के स्वभाव हैं[12]। वैश्य को सर्वदा ब्राह्मणवंश का अनुयायी रहकर गौ रक्षा, कृषि एवं व्यापार के द्वारा अपनी आजीविका चलानी चाहिये[13]। वैश्य अपने धर्म से जीविका

करने में असमर्थ हो तो वह न करने योग्य कर्मां को छोड़कर शूद्र की (शिल्प आदि) वृत्ति से भी निर्वाह कर सकता है, परन्तु समर्थ होने पर शूद्र वृत्ति को छोड़ दे[14]। सद्‌गुण तो धर्म हैं ही, वंशपरम्परागत चली आयी आजीविका को बनाये रखना यह भी धर्म है। भागवत में तथा अन्य सभी आर्य धर्म शास्त्रों में परम्परागत वृत्ति को बनाये रखने पर बड़ा बल दिया गया है। अतः जो तुम्हारा स्वाभाविक कर्म है, सहज धर्म है, उसमें लगे रहो और सद्‌गुणों को, धर्माचरण को बढ़ाते रहो।

शूद्र वर्ण-

ब्राह्मण, गौ और देवताओं की निष्कपट भाव से सेवा करना और उसी से जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहना ये शूद्र वर्ण के स्वभाव हैं[15]। उच्च वर्णो के सामने विनम्र, रहना, पवित्रता, स्वामी की निष्कपट सेवा, वैदिक मंत्रों से रहित यज्ञ, चोरी न करना, सत्य तथा गौ ब्राह्मणों की रक्षा करना ये शूद्र के लक्षण हैं[16]। शूद्र का धर्म है द्विजातियों की सेवा, उसकी जीविका का निर्वाह उसका स्वामी करता है[17]। शूद्र वर्ण का आजीविका का कर्म है। शूद्र द्विजातियों की सेवा करने में असमर्थ हो और जिसके स्त्री पुत्र क्षुधा से पीड़ित हों, वह कारीगरी से जीविका चला सकता हैं[18]।

अन्त्यज-

अपवित्रता, झूठ बोलना, चोरी करना, ईश्वर और परलोक की परवाह न करना, झूठमूठ झगड़ना और काम, क्रोध एवं तृष्णा के वश में रहना ये अन्त्यजों के स्वभाव हैं। जो चोरी तथा अन्याय पाप कर्म नहीं करते उन अन्त्यज तथा चाण्डाल आदि अन्तेवसायी वर्णसंकर जातियों की वृत्तियां वे ही हैं, जो कुल परम्परा से उनके यहाँ चली आयी हैं[19]। वेददर्शी ऋषि मुनियों ने युग-युग में प्रायः मनुष्यों के स्वभाव के अनुसार धर्म की व्यवस्था की है, वही धर्म उनके लिये इस लोक और परलोक में कल्याणकारी है। भगवान् इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति संहार करने वाले, सर्वशक्तिमान! सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सबमें व्यापक हैं। यह सारा जगत उन्हीं की रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमाया से जगत् के रूपमें प्रकट हुए हैं, अतः यह सम्पूर्ण जगत् भगवान् का है। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण में क्यों न हो, अपने कर्मों से भगवान् की पूजा करके परम सिद्धि रूप परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। परमात्मा को प्राप्त करने में सभी मनुष्यों का समान अधिकार है। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवन का हेतु अनित्य हैं। इसलिये मरण संकट उपस्थित होने पर भी मनुष्य को चाहिये कि वह हँसते-हँसते मृत्यु को स्वीकार कर ले, पर स्वधर्म का त्याग किसी भी हालत में न करे इसी में मनुष्य का सब प्रकार से कल्याण है।

मानव की वैयक्तिक उन्नति हो और उससे समाज की समुन्नति हो इस विचार पद्धति के अनुसार ही वर्ण संस्था का जन्म हुआ। समाज के चार मुख्य वर्ण निर्माण किये गये- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- मनुष्य के गुण-कर्म-विभागनुसार मैंने ही चार वर्णों की सृष्टि की[20]। मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, आन्तर बाह्य शुद्धि, धर्म के लिये कष्ट सहना और क्षमाभाव रखना, मन, इन्द्रिय और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्रों का ज्ञान और परमात्म तत्व का अनुभव[21]। शूरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान और स्वाभिभाव (निस्वार्थ होकर सबका हित-चिन्तन, शास्त्राज्ञानुसार शासन और प्रेम पूर्वक पुत्रवत् प्रजा का पालन)[22]। खेती, गौ-पालन और सत्यव्यवहार के अनुरूप माल की खरीद और बिक्री[23] सबसे कनिष्ठ वर्ण शूद्रों का रहा, उसका स्वभावज कर्म था। अन्य सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म निश्चित हुआ[24]। प्रत्येक वर्ण के सब लोग अपने-अपने स्वाभाविक कर्म निष्ठा और तत्परता के साथ करने लगे, इससे समाज के सभी मनुष्य उद्योगी बने। कारण, सब किसी का कर्म नियोजित था। समाज का प्रत्येक घटक इस प्रकार सुख पूर्वक रहने लगा और वर्णव्यवस्था से सुमर्यादित आर्यो का समाज उच्च लक्षणों से युक्त होकर श्रेष्ठता को प्राप्त हुआ । सब कोई सच्चाई और ईमानदारी बरतने लगे । इस प्रकार वर्ण व्यवस्था लाभकारी सिद्ध हुई। इससे समाज की मानवता का आप ही पोषण और संरक्षण होने लगा व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति अनायास ही हो चली।

सन्दर्भ गन्थ सूची

1. विप्रक्षत्रियविट्ं शूद्रा मुखबाहुरुपादजाः ।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः (श्रीमद्भागवत 11/17/13)
(श्रीमद्भागवत 3/6/30-34)

2. ब्रह्म वा इदमग्रमासीद् न व्यभवत्..........।
असृजत क्षत्रम्.........एतानि देवता क्षत्राणि.........
इन्द्रो वरुणः सोमोरूद्र.......इति..........नैव व्यभवत्।
विशमृजत यानि ....देवजातानि गण्ेश आख्या.......
यन्ते वसवो रुद्रा आदित्या ......इति........नैव व्यभवत्
शौद्रवर्णमसृजत...... पूषेयम् ....। (बृहदारण्यक 4)

3. लघु यत्कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्।
दृढालघु यत्काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत्।
कोमलं गुरू यत्काष्ठं वैश्यजाति तद्च्यते।
दृढांगं गुरू यत्काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते। (अग्नि पुराण वृक्षायुर्वेद प्रकरणे)

4. शमो दमस्तयः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भवितश्रच दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः।। (श्रीमद्भागवत 11/11/14)
(श्रीमद्भागवत 7/11/21)

5. विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः। (श्रीमद्भागवत 7/11/14)

6. वर्ता विचित्रा शालीनयायावर शिलोच्छनम्।
विप्रवृत्तिश्चर्चुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा।। (श्रीमद्भागवत 7/11/16)

7. ऋतामृताभ्यां ....जुगुप्सिताम्। (7/11/18-19-20)

8. तेजो बलं धृतिः शौर्य तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्य ब्रह्मण्यतैश्वर्य क्षत्रप्रकृतय स्त्विमाः।।
(श्रीमद्भागवत 112/7/17) (7/11/22)

9. राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्रविप्राद् वा करादिभिः। (श्रीमद्भागवत 7/11/14)
10. जीवेदेतेन राजन्यः सर्वज्ञाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्यते कर्हिचित्।। (मनु. 10/15)
11. देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुणं वैश्यलक्षणम्।। (श्रीमद्भागवत 7/11/23)
12. आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रहमसेवनम्।
अतुष्ठिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः(श्रीमद्भागवत 7/11/15)
13. वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्रच नित्यं ब्रह्मकुलानुगः। (श्रीमद्भागवत 7/11/15)
14. वैश्योजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्यापि वर्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेन च शक्तिमान्।। (मनृ. 10/18)
15. शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्र प्रकृतयस्त्विमाः।। (श्रीमद्भागवत 11/17/19)
16. शूद्रस्य संनतिः शैचं सवा स्वामिन्यमायया।
अमन्त्रयज्ञों ह्यस्त्ययं सत्यं गोविप्ररक्षणम्।। (श्रीमद्भागवत 7 /11/24)
17. शूद्रस्य द्विजशुरूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्।। (श्रीमद्भागवत 7/11/15)
18. अशक्कुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तु द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारूककर्मभिः।। (मनु. 10 - 11)
19. वृत्तिः सडारजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेड वसायिनाम् (श्रीमद्भागवत 7/11/30)
20. चातुर्वर्ण्ये मया सुष्टं गुणकर्म विभागशः (गीता 4/13)
21. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। (गीता 18/42)
22. शोर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्रवरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। (गीता 18/43)
23. कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। (गीता 18/44)
24. परिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्। (गीता 18/44)